शासन शिरोमणि निश्चयरत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग प्रकाशक, भाविके भगवंत, जिनेन्द्र लघुनंदन कहानगुरुकी १३२वीं जन्मजयंतीके मंगलकारी प्रसंगपर उनके पादपंकजमें शत शत वंदन हो!

गुरुदेव तो स्वयं एक अलौकिक द्रव्य थे, अलौकिक उनका परिणमन था और पुण्यका वाणीका योग भी कोई अलौकिक सातिशय योग था। गुरुदेवश्रीको श्रुतकी लब्धि थी। सुननेवालेको तो कानमें कोई अमृतकी धारा करता हो ऐसा मीठा लगे। कितने ही जीवोंको तो ऐसा लगा है कि मानों कोई दैवी वाणी आ रही है! एक असाधारण युगपुरुष जैसा गुरुदेवका व्यक्तित्व था एवं कर्तृत्व भी ऐसा ही था।

—पूज्य भाईश्री शशीभाई

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५४६ः अंक-२८१, वर्ष-२४, मई-२०२१

आषाढ़ कृष्ण ९, मंगलवार, दि. १२-७-१९६६, योगसार पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, गाथा-८४ प्रवचन-३२

यह योगसार चलता है, इसकी ८४ वीं गाथा।

दंसणु जं पिच्छियइ बुह अप्पा विमल महंतु।
पुणु पुणु अप्पा भावियए सो चारित्त पवित्तु।।
।।८४।।

भगवान योगीन्द्रदेव, जंगलवासी दिगम्बर आचार्य थे चौदह सौ वर्ष पहले (हुए)। इन्होंने यह एक परमात्मप्रकाश और एक यह अमृताशीति आदि बनाये हैं। अपने यहाँ दो प्रसिद्धि में हैं। यह योगसार है। योगसार का अर्थ - अपना शुद्धस्वरूप, एकरूप पवित्र है। इसमें एकाकार होकर, योग अर्थात् जुड़ान करके सार अर्थात् निर्विकल्पदृष्टि, ज्ञान और रमणता करने का नाम योगसार - मोक्षमार्ग कहते हैं। यहाँ तो सब सार ही है। समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, गोम्मटसार, योगसार - सन्तों ने सब सार-सार ही बनाया है। दिगम्बर सन्तों ने तो तत्त्व का सार दोहन करके सार-सार निकाला है।

योगसार - भगवान आत्मा परिपूर्ण वस्तु स्वरूप अखण्ड एकरूप है, उसमें यह योग है, वह पर्याय है। योगसार वह पर्याय है परन्तु योगसार पर्याय का विषय द्रव्य है। समझ में आया? योगसार, वह पर्याय है परन्तु वस्तु एकरूप त्रिकाल ज्ञायकस्वभावभाव परमस्वरूप, जिसमें कोई उत्पाद-व्यय नहीं है। ध्रुव शाश्वत सत् ध्रुववस्तु में एकाकार, उसका लक्ष्य करके, ध्येय बनाकर, उसमें श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता करना, उसका नाम यहाँ पर भगवान, योगसार कहते हैं। व्यवहार योगसार निकाल डालते हैं। जो विकल्प-व्यवहार बीच में है, वह सार नहीं है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया? वह कहते हैं, देखो!

यह आत्मा '**विमल महंतु**', '**मलरहित शुद्ध और महान...**' '**अप्पा महंतु**'**-महान परमात्मा है।**' एक सेकेंड के असंख्य भाग में वह तो अनन्त परमात्मा का पेट अन्दर में है। जो सर्वज्ञ या सिद्ध परमात्मा होते हैं - ऐसी-ऐसी परमात्मदशा तो जिसके गर्भ में - ध्रुव में अनन्त पड़ी है - ऐसा वह आत्मा-परमात्मा ध्रुवरूप शाश्वत, उसका श्रद्धान करना। '**पिच्छियइ**' शब्द लिया है। '**पिच्छियइ**' अर्थात् देखना; देखना अर्थात् श्रद्धान करना। वह श्रद्धा ऐसे के ऐसी नहीं, कल्पना नहीं। वह श्रद्धा स्वसन्मुख होकर, परसन्मुखता के भेद के विकल्प से निराली होकर अपने शुद्ध अन्तर्मुख स्वभाव में देखना अर्थात् उस स्वभाव की प्रतीति करना, उसका नाम सम्यग्दर्शन कहा जाता है। यह '**पिच्छियइ**' शब्द से लिया है। '**श्रद्धान करना, वह सम्यग्दर्शन है।**'

'**ऐसा जानना, वह ज्ञान है...**' ऐसा जानना कि भगवान आत्मा परिपूर्ण स्वरूप को ज्ञेय करके, वह

वस्तु अखण्ड एकरूप है, उसे ज्ञेय करके उसका ज्ञान करना, उसका नाम मोक्ष के मार्ग का दूसरा अवयव - ज्ञान कहा जाता है। समझ में आया? भगवान आत्मा परम पारिणामिकस्वभावभावस्वरूप त्रिकाल... त्रिकाल... त्रिकाल... असंख्य प्रदेश का पिण्ड किन्तु वह असंख्य भेद भी नहीं, एकरूप है। उसमें असंख्य प्रदेश है, उसमें अनन्त गुण परन्तु गुणभेद नहीं, एकरूप, दृष्टि हुए बिना एकाकार नहीं होता। एकाकार हुए बिना एक रूप दृष्टि नहीं आती। समझ में आया?

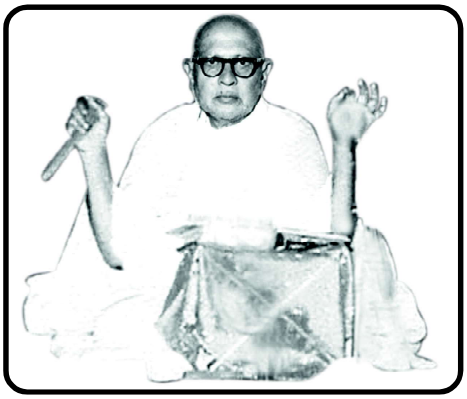

कहते हैं कि भगवान '**अप्पा विमल महंतु**' '**महंतु**' (अर्थात्) वह तो महान आत्मा है। महान आत्मा। उसके एक-एक गुण अनन्त पर्याय प्रगट करने लायक है। एक-एक गुण से भी अनन्त शक्तिवान है। अनन्त शक्तिवान है। ऐसे अनन्त गुण, उनका एकरूप '**महंतु**' महात्मा भगवान की अन्तर्मुख श्रद्धा करना। वह जैसा है, वैसा। भगवान सर्वज्ञ कहते हैं वैसा। अन्य सर्व लोग आत्मा कहते हैं कि आत्मा ऐसा आत्मा ऐसा, ऐसा नहीं। सर्वज्ञ ने कहा वैसा (आत्मा)। बाद की गाथा में आयेगा। ८५ (गाथा) 'जहाँ आत्मा वहाँ सकल गुण, अनन्त गुण, केवली बोले ऐम'। जहाँ आत्मा वहाँ सकल गुण केवली बोले ऐम। निर्मल अनुभव आपका प्रगट करो सो प्रेम। यह ८५ में आएगा। इसलिए यहाँ पहले यह लिया है।

सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ वीतराग परमेश्वर ने जो एक-एक आत्मा देखा तो भगवान ने आत्मा कैसा देखा? असंख्य प्रदेशी, अनन्त गुण का पिण्ड और त्रिकाल एकरूप स्वभाव देखा। ऐसा जो आत्मा, उसमें पुण्य-पापभाव नहीं आते, शरीर-वाणी नहीं आते और उसकी पर्याय के भेद भी उसमें नहीं आते। उसमें यह गुण है और यह गुणी है ऐसा भेद भी नहीं आता। ऐसे महन्त आत्मा का अन्तर्मुख दर्शन करना, उसका नाम भगवान परमेश्वर, त्रिलोकनाथ, सम्यग्दर्शन है - ऐसा फरमाते हैं। उसका ज्ञान... शास्त्र का ज्ञान आदि नहीं... उस ज्ञानस्वरूपी भगवान का ज्ञान, ज्ञायकभगवान एक स्वरूपी प्रभु, एक स्वरूपी ज्ञायक का ज्ञान, उसका नाम ज्ञान है। शास्त्र का ज्ञान वह ज्ञान नहीं है, समझ में आया? वह बर्हिसत्तावलम्बी ज्ञान है। स्वसत्तावलम्ब होकर अपने शुद्धस्वरूप में एकाकार होना, जो ज्ञान स्वरूप त्रिकाल है, उसमें से ज्ञान की पर्याय का प्रगट होना, वह अपना ज्ञान है। उसे ज्ञान कहते हैं। आहा...हा...!

'**पुण पुणु अप्पा भावियए**' यह चारित्र की व्याख्या चलती है। चारित्र (अर्थात्) क्या? '**बारम्बार इस आत्मा की भावना करना, वह पवित्र अथवा निश्चय शुद्ध चारित्र है।**' भगवान आत्मा शुद्ध पूर्णानन्द अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द एकरूप की दृष्टि हुई है, ज्ञान हुआ है, (अब) बारम्बार उसमें लीन होना, आत्मा में लीन होना, हाँ! विकल्प, शरीर की क्रिया उसमें है ही नहीं। ओ...हो...! देखो न, जीवित शरीर की क्रिया से धर्म होता है - ऐसा कहते हैं न? ऐसा प्रश्न उठा है जयपुर में (जयपुर-खानियां तत्त्वचर्चा में) आहा...हा...!

भगवान यहाँ कहते हैं, प्रभु! वह शरीर की क्रिया तो जड़ की है, अन्दर दया-दान का विकल्प उठता है, वह पुण्यास्रव है, पाप की, हिंसा झूठ की तो बात ही क्या करना? और उसकी एक समय की प्रगट पर्याय है, उसका आश्रय करना वह भी चीज नहीं है; उसका आश्रय करना तो विकल्प है। उसका ज्ञान और पर्याय का ज्ञान करना वह भी ज्ञान नहीं है। एक समय में

चैतन्यप्रभु, उसका ज्ञान करके बारम्बार उसमें लीन होना - आत्मा में लीन होना, उसे पवित्र निश्चयचारित्र कहा जाता है। देखो! दो शब्द पड़े हैं। शुद्धोहम्.... शुद्धोहम्। शुद्ध क्या करे? वह तो विकल्प आया।

एकरूप (स्वरूप का) पहले ज्ञान में लक्ष्य करके फिर एकरूप में एकाकार दृष्टि करना, जिसमें भेद का लक्ष्य नहीं रहे और निर्विकल्प प्रतीति उत्पन्न हो, ऐसे द्रव्य का आश्रय करना, उसका नाम सम्यग्दर्शन, ज्ञान है और उसी आत्मा में... जैसा अखण्ड अभेद श्रद्धा-ज्ञान में लिया है, उसी आत्मा में स्थिरता, स्थिरता, जम जाना, लीन होना, चरना... चरना... चरना अर्थात् चारा चरना, आनन्द का चारा चरना, आनन्द का अनुभव करना, अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करना, उसका नाम भगवान, चारित्र कहते हैं।

दो शब्द प्रयोग किये हैं। पवित्र... समझ में आया? और उसका अर्थ चारित्र अर्थात् निश्चय लेना। समझे? '**पुण पुणु अप्पा भावियए, सो चारित्त पवित्तु**' वह निश्चयचारित्र - सच्चा चारित्र, वही पवित्र है और वही मोक्ष का कारण है। ऐसा है, भाई! व्यवहारचारित्र, व्यवहारज्ञान और व्यवहारश्रद्धा, वह तो परावलम्बी विकल्प है, वह कहीं मोक्षमार्ग में नहीं है। मोक्षमार्ग दो नहीं हैं, मोक्षमार्ग का कथन दो है, मार्ग दो नहीं हैं। अभी बड़ी विपरीतता चलती है। नहीं, मार्ग दो है। भगवान! मार्ग दो नहीं हैं, मार्ग एक ही है परन्तु कथनशैली में दो प्रकार निमित्त देखकर आए हैं परन्तु निमित्त है, वह मार्ग है ही नहीं। यह एक ही मार्ग है। यह 'योगसार' है। ८४ गाथा है। समझ में आया?

भगवान आत्मा वस्तु है या नहीं? एकरूप अखण्ड अभेद चीज है या नहीं? पर्याय में परिणमन है, उसका अभी लक्ष्य (नहीं है)। पर्याय है, हाँ। पर्याय उसका स्वभाव है, स्वभाव है, ऐसा नहीं है। वह पर्याय स्वभाव ही अभी लेंगे परन्तु उस पर्याय का आश्रय नहीं करना है। पर्याय का आश्रय करने से विकल्प उत्पन्न होते हैं क्योंकि पर्याय तो एक अंश है, स्थिर नहीं। स्थिर नहीं, उस पर लक्ष्य करने से तो अस्थिर विकल्प उत्पन्न होता है। यह वस्तुबिम्ब स्थिर... स्थिर... स्थिर... ध्रुव अनादि अनन्त है; जिसमें अनादि-अनन्त ऐसा काल भेद भी नहीं है, एकरूपता (है)। उसमें बारम्बार रमण करना, लीनता करना, रमना, आनन्द का अनुभव (करना), बारम्बार अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करना, उसका नाम पवित्र चारित्र है। (उसे) मोक्ष का मार्ग कहते हैं। अद्भुत बात, भाई! अट्ठाईस मूलगुण और पञ्च महाव्रत तो कहीं रह गये, वह तो विकल्प है भगवान! भाई! यहाँ तो मार्ग तो स्वस्वभाव में से आता है या परलक्ष्यी राग में से आता है? भगवान अन्तर परिपूर्ण पड़ा है न, प्रभु! इसे विश्वास नहीं है। अनन्त... अनन्त... चैतन्यरत्नाकर... ओ...हो...! समझ में आया?

एक आकाश का अस्तित्वगुण लो तो सम्पूर्ण व्यापक है। यहाँ अस्तित्वगुण लो तो भी इतने में व्यापक है, पूर्ण है। ऐसा नहीं है कि इतने क्षेत्र में ज्ञानगुण है तो थोड़ा है, अस्तित्व गुण है तो थोड़ा है और आकाश अनन्तगुने क्षेत्र में व्यापक है तो बड़ा है - ऐसा नहीं है। क्षेत्र से बड़ा, उसकी महत्ता नहीं है; उसके भाव की महत्ता है। भगवान आत्मा असंख्य प्रदेश के धाम में जो अनन्त गुण हैं, एक-एक गुण की महान अनन्त... अनन्त... सामर्थ्य है, महानता है। ऐसे एकरूप सामर्थ्य (स्वरूप) द्रव्य में लीन होना, वह चारित्र है। वास्तव में वह चारित्र मोक्ष का मार्ग है। चारित्र का कारण दर्शन, ज्ञान है। दर्शन-ज्ञान के बिना (चारित्र नहीं), परन्तु वास्तव में मोक्ष का मार्ग तो चारित्र चारित्तं खलु धम्मो (है)। समझ में आया? परन्तु यह चारित्र।

मुमुक्षु : एकाग्र अर्थात् बारम्बार स्थिर होना।

उत्तर : बारम्बार का अर्थ उसी-उसी में एकाग्र होना ऐसा। बारम्बार विकल्प में आ जाए न? अस्थिरता

(हो) अमुक स्थिरता तो कायम होती है परन्तु अन्तर में जमने की (बात है)। एकाकार निर्विकल्प शुद्धोपयोग में से हट जाए, फिर निर्विकल्प उपयोग में आना, ऐसा। अमुक चारित्र की स्थिरता तो कायम होती है। समझ में आया? यहाँ '**पुणु पुणु**' कहा, उसका अर्थ यह कि निर्विकल्प उपयोग में बारम्बार आना, बारम्बार आना। पञ्च महाव्रत आदि के विकल्प आ जाते हैं परन्तु बारम्बार वहाँ जम जाने का नाम पवित्र चारित्र है। लो, इतना तो इस श्लोक का शब्दार्थ हुआ। फिर भाई ने 'शीतलप्रसादजी' ने जरा (भावार्थ लिखा है)।

'**अपने आत्मा का यथार्थ स्वरूप जानकर उसका श्रद्धान करना चाहिए।**' थोड़ी साधारण बात की है। '**यह आत्मद्रव्य परिणमनशील है...**' यह आत्मा द्रव्य है, वस्तु है और वर्तमान परिणमन है, परिणमन अर्थात् पलटता स्वभाव है; पलटना उसका स्वभाव है। '**गुणों का समूह है...**' भगवान आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड है। आता है या नहीं? ऐई...! कहाँ (आता है)? 'जैन सिद्धान्त प्रवेशिका'। द्रव्य किसे कहना? यह तो पहली व्याख्या है। गुणों के समूह को। गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं। जैन सिद्धान्त प्रवेशिका... है? द्रव्य किसे कहते हैं? गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं - ऐसा जैन सिद्धान्त प्रवेशिका में आता है। वही यहाँ कहा है। देखो! गुणों का समूह वह द्रव्य है। द्रव्य तो एक है, गुण का समूह कहा है न? समूह, गुणभेद है, वह अलग बात, एक-एक गुण की दृष्टि करने से तो खण्ड-खण्ड होता है। गुणों का समूह वस्तु है, एकरूप वस्तु है।

'**गुणों में स्वभाव परिणमन होना, वह द्रव्य का धर्म है।**' उन गुणों में, पर्याय में -अवस्था में स्वभाव परिणमन होना, वह द्रव्य का धर्म है, पर्याय का, हाँ! '**परिणमनशक्ति से ही गुणों की समय-समय पर्यायें होती हैं।**' बदलने के कारण से वह पर्यायधर्म आत्मा का स्वभाव है। अपना पर्यायधर्म है, पलटना धर्म है, क्षणिक पर्याय में पलटना। तो कहते हैं समय-समय पर्याय होती है।

'**व्यवहारनय से यह आत्मा कर्मसहित मलिन दिखता है।**' व्यवहार से संयोग दिखता है। स्वभावनय से नहीं, वह निश्चय है। '**कर्मों के संयोग से चौदह गुणस्थान और चौदह मार्गणारूप आत्मा की जो अवस्थाएँ होती हैं, वे आत्मा का निजशुद्ध स्वभाव नहीं है।**' वह भेद है, आश्रय करने योग्य नहीं है। भूतार्थ एकरूप स्वभाव है। गुणस्थान अभूतार्थ है। अभूतार्थ का अर्थ 'नहीं है' ऐसा नहीं है। आश्रय करने योग्य नहीं है। क्षणिक अवस्था है, इस अपेक्षा से उसे अभूतार्थ निश्चय की अपेक्षा से कहा है।

'**जब शुद्धनिश्चय से जाना जाए तो यह आत्मा यथार्थ में जैसा मूल द्रव्य है वैसा जानने में आता है।**' भेद नहीं, चौदह गुणस्थान आदि व्यवहारनय का विषय है अवश्य, हाँ! है सही, यह विषय छोड़ दे तो तीर्थ का नाश हो जाए। चौथा, पाँचवाँ, छठा पर्याय भेद भी न रहे। व्यवहार का विषय ही न हो, यह मिथ्या बात है। व्यवहारनय का विषय है (परन्तु) आश्रय करने योग्य नहीं है।

मुमुक्षु : दोनों रखो।

उत्तर : दो किस प्रकार रखें? आश्रय करने योग्य एक। दूसरी चीज जानने योग्य का अस्तित्व जानना। चौदह गुणस्थान, मार्गणास्थान सब है। नहीं है, ऐसा नहीं है। वह तो आश्रय करने योग्य नहीं है, इस अपेक्षा से व्यवहार कहकर अभूतार्थ कहा है। व्यवहार कहकर गौण करके (अभूतार्थ) कहा है, उसे गौण करके (कहा है), उसका अभाव करके नहीं। (क्योंकि) पर्याय उसकी है। पर्याय को गौण करके, व्यवहार कहकर अभूतार्थ कहा - इतना लेना। पर्याय को गौण करके व्यवहार कहकर, गौण करके व्यवहार कहकर अभूतार्थ कहा है। भगवान आत्मा एक समय में पूर्ण-पूर्ण मुख्य करके,

निश्चय कहकर, उसे भूतार्थ कहा है। समझ में आया? अभाव करके (कहे तो) पर्याय है ही नहीं - ऐसा हुआ। पर्याय का लक्ष्य छोड़ना है, इसलिए उसे गौण करना परन्तु है ही नहीं ऐसा है? पर्याय है ही नहीं? परिणमन है ही नहीं? गुणस्थान है ही नहीं? (यदि ऐसा होवे तो) वस्तु का नाश हो जायेगा। सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र वह यह मोक्षमार्ग और यह सब पर्याय हैं, चौथा, पाँचवाँ, छठा, सातवाँ, तेरहवाँ (गुणस्थान) यह सब क्या है? यह तो सब पर्याय है। पर्याय नहीं? है, परन्तु उसमें अपना प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। प्रयोजन सिद्ध करने के लिए पर्याय के भेद को गौण करके; अभाव करके नहीं (किन्तु) गौण करके व्यवहार कहा है और व्यवहार कहकर अभूतार्थ कहा है। भगवान आत्मा का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए एकरूप निश्चय मुख्य नहीं; मुख्य त्रिकाल मुख्य वस्तु को निश्चय कहकर, अभेद करके उसे भूतार्थ कहा है। वस्तु यथार्थ, यथार्थ, यथार्थ... आहा...! समझ में आया? ऐसी वस्तु सर्वज्ञ के सिवाय तीन काल में दूसरे किसी स्थान में नहीं है। वेदान्त भले बड़ी-बड़ी बात करे कि आत्मा ऐसा है, आत्मा ऐसा है; सब मिथ्या बात है, सब विपरीत बात है। समझ में आया? यहाँ निश्चय की बात करते हैं, इसलिए वेदान्त के साथ मिल जाता है - ऐसा नहीं है।

भगवान आत्मा अभेददृष्टि में मुख्य करके उसका आश्रय करना है, प्रयोजन सिद्ध करना है। पर्याय के आश्रय से प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। अपने कार्य में शान्ति प्रगट करना है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों शान्ति है। तीनों धर्म है, शान्ति है, तीनों आनन्द है। तो आनन्द का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए अपना स्वभाव त्रिकाल जो मुख्य है, उसे निश्चय कहकर भूतार्थ - एक वही है, वही है - ऐसा कहा, परन्तु पर्याय है ही नहीं - ऐसा नहीं है। समझ में आया?

'**यह आत्मा सत् पदार्थ है, वह कभी जन्मा नहीं, कभी नष्ट होनेवाला नहीं स्वतः सिद्ध है। किसी ने उसे उत्पन्न नहीं किया...**' जो होवे उसे कौन उत्पन्न करे? है... है... है... आदि - अन्तरहित सत् भगवान आत्मा सत्... सत् है। सत् कहो या है कहो। है... है... है... तो उसका स्वभाव भी त्रिकाल है, स्वभाव त्रिकाल है, परिणमन एक समय की पर्याय है। यह लोक अनादिकाल से है, छह द्रव्यों के समूहों को लोक कहते हैं। ठीक। यह तो बात की है।

'**आत्मा, आत्मारूप से सर्व समान है तो भी प्रत्येक आत्मा की सत्ता दूसरे आत्मा की सत्ता से पृथक् है। अनन्त आत्मा...**' निगोद के एक शरीर में अनन्त (आत्मा हैं)। ओ...हो...! इतनी कीमत तो दे, कहते हैं। एक निगोद का इतना टुकड़ा, बटाटा को क्या कहते हैं? आलू, हरी काई, एक इतना टुकड़ा लो, उस टुकड़े में असंख्य शरीर, एक शरीर में अभी तक जितने सिद्ध हुए उनसे अनन्त गुणे जीव, संख्या से अनन्त हैं - इस अपेक्षा से समान हैं; सत्ता सबकी अलग-अलग है। आहा...हा...! यह वस्तु बापू! यह वस्तु है, भाई! एक तो तेरे ज्ञान की एक समय की पर्याय में इतने ही छह द्रव्यों का इतना अस्तित्व स्वीकार करे, इतनी तो इसके ज्ञानगुण की एक समय की परलक्ष्यी पर्याय की सामर्थ्य है। समझ में आया? यह भगवान आत्मा का लक्ष्य करके जो ज्ञानपर्याय प्रगट हुई, उसमें तो अनन्त... अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु जानने की, स्वीकार करने की एक समय की पर्याय में ताकत है। समझ में आया? यह कहते हैं। देखो, '**प्रत्येक आत्मा की सत्ता दूसरे आत्मा की सत्ता से निराली है।**'

'**अपने आत्मा को एकाकी देखो...**' श्रद्धा का विषय है न! भगवान आत्मा एकाकी अकेला है, पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। '**उसमें न आठ कर्म का बन्ध है...**' ऐसा एकाकी देखना है न! अकेला तो

(प्रवचन का शेष अंश पृष्ठ सं. ११ पर)

पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा परमागमसार ग्रंथके वचनामृत-२१६ पर भाववाही प्रवचन, दि. १२-४-१९८३, प्रवचन क्रमांक-८९ (विषय : मार्गदर्शन)

जिसने बाहर में किसी राग में-'संयोग में-क्षेत्र में व ऐसे ही कहीं न कहीं या किसी द्रव्य में-क्षेत्र में-काल में, कुछ ठीक सा मानकर, वहाँ रूककर समय गंवाया है-उसने अपनी आत्मा को ठग लिया है।' २१६.

(परमागमसार, बोल) २१६। '**जिसने बाहर में किसी राग में-'संयोग में-क्षेत्र में व ऐसे ही कहीं न कहीं या किसी द्रव्य में- क्षेत्र में-काल में, कुछ ठीक सा मानकर, वहाँ रूककर समय गंवाया है - उसने अपनी आत्मा को ठग लिया है।**' थोड़ी मार्मिक भाषा है। क्या कहते हैं? कि जीव समय गंवा देता है। देवलोक में बहुत बड़े-बड़े आयुष्य है। हलकी से हलकी जाति के जो व्यंतरदेव होते हैं उसका आयुष्य कम से कम दस हजार साल का होता है। वह अघाति की स्थिति ही लंबी बंधती है। कषाय की मंदता में और तीव्रता में दोनों में अघातिकर्म की स्थिति लंबी होती है। नीचे नरक में जाये तो वहाँ बड़ा लंबा आयुष्य और ऊपर देव में जाये तो वहाँ भी लंबा आयुष्य!

पहली नरक की पहली पृथ्वी में जघन्य आयुष्यधारक नारकियों की स्थिति दस हजार वर्ष की होती है। इससे कम आयुष्य किसी का नहीं होता। परंतु इन दोनों क्षेत्र में जानेवाले जीवों की यह स्थिति जो है वह अघातिकर्म की है। आयुष्य, नाम, गोत्र और वेदनीय इसमें नाम, गोत्र और वेदनीय तीनों आयुष्य के अनुपात में चालू रहते हैं। आयुष्य मुख्य प्रकृति है, अन्य तीनों इसके साथ रहती हैं।

कहते हैं कि बाहर में जो देवलोक का देव है उसका हजारों साल का (आयुष्य होता है)। (ऊपर जो कहा) वह तो कम से कम दस हजार वर्ष है। फिर तो वह पल्योपम और सागरोपम के आयुष्य है! वहाँ जो सागरों के लंबे आयुष्य हैं वह कैसे पूरे हो जाते हैं? कि उसे विश्राम मिल गया। उसको ऐसा लगा कि यह सब मुझे ठीक है, बहुत अच्छा है, मुझे यह सब अनुकूल है। ऐसे जब अनुकूलता में जीव विश्राम करता है, तब (उसमें) कितना काल चला गया यह पता नहीं चलता! वहाँ एक नाटक चले तो उसको पूरा होने में सैकड़ों-हजारों साल निकल जाते हैं। नाचना-गाना और अनेक प्रकार (के मनोरंजन), क्योंकि वहाँ उन्हें कोई आहार-निहार का प्रसंग तो है नहीं। अतः उसमें ही समय बीत जाता है। कषाय की मंदता में समय का व्यतीत होना, निर्गमन होना बहुत आसानी से होता है। इससे उल्टा कषाय की तीव्रता में समय निकालना मुश्किल लगता है। नरक में एक-एक क्षण बिताना बहुत विकट लगता है। ऊपर (देवलोक में) हजारों वर्ष कहाँ बीत गये इसका ध्यान तक नहीं रहता। क्योंकि वहाँ (नरक में) कषाय की तीव्रता रहती है और यहाँ (स्वर्ग में) कषाय की मंदता

रहती है।

अब इसी नजर से यहाँ भी देखे तो मनुष्य जीवन में, यदि बाहर में ज्यादा प्रतिकूलताएँ न हो परंतु साधारणतया मनुष्योचित व्यवहार आसानी से चले ऐसी व्यवस्था, पूर्व पुण्य के उदयवश हो चुकी हो तो उसमें जिंदगी कैसे बीत गई पता नहीं चलता। ऐसा कहेगा - कितने वर्ष बीत गये पता ही नहीं चला! ऐसा कहते हैं कि नहीं? कहाँ वर्ष बीत गया और कहाँ दिन बीतते गये पता ही नहीं रहता है, इसका मतलब क्या हुआ?

प्रश्न :- समय सापेक्ष है ?

समाधान :- नहीं, यहाँ इतना ही लेना है कि जीव विश्राम में समय गंवाता है। विश्राम में उसे आसरा मिल जाता है, जैसे मुझे तो यहाँ ठीक लगता है! फिर वहाँ से चलने की बारी जब आती है - आयुष्य पूरा होने पर जीव को इसका प्रत्याघात आता है। पता चले कि शरीर की प्रकृति कोई असाधारणरूप से काम करती है, कभी ऐसी गड़बड़ी होगी कि आयुष्य पूरा हो जाएगा। ऐसा बड़ा फेरफार दिखते ही सीधा आघात उत्पन्न हो जाता है कि अरे...! (ये क्या)? ऐसा आघात क्यों लगा? क्योंकि वहाँ विश्राम मानकर बेफिक्र था इसलिए आघात लगा। घर ठीक है, कुटुंब ठीक है, सगे-संबंधी ठीक हैं, बाहर की अनुकूलताएँ जरूरत के मुताबिक ठीक हैं। हालॉकि इसमें कोई न कोई आपत्ति तो होती ही है इस काल में। या घर में होगी या सगे-संबंधियों में होगी, या कोई दूसरी या सरकार की होगी। परंतु फिर भी जीव, संतोष मानकर कहीं न कहीं विश्राम करता है। सब अनुकूल न हो तो जितना अनुकूल होगा उसमें ठीकपने की कल्पना करके (रूकता है) कि इतना तो ठीक है! इसमें तो उपाधि नहीं है। इस प्रकार की उपाधि तो कम से कम नहीं है। ऐसा जानकर वहाँ विश्राम करता है, ऐसा कहते हैं। यहाँ थोड़ी मार्मिक बात है।

'**(कुछ ठीक सा मानकर,) वहाँ रूककर समय गंवाया है।**' ऐसा कहते हैं। समय लिया न? उसका समय वहाँ जल्दी पसार हो जाता है। वहाँ उसे रस आता है। जीव को जहाँ रस आये वहाँ समय का - काल का निर्गमन कितना हो गया इसका खयाल नहीं रहता और काल व्यतीत हो जाये इसका खयाल नहीं रहता, यह जीव को रस आया है इसका लक्षण है। ऐसा आमने-सामने है।

इसीलिए ऐसा कहते हैं कि आत्मा को छोड़कर किसी एक प्रकार के राग में (अर्थात्) मुझे ऐसा करना है, ऐसा करना है, ऐसा करना है, ऐसा करना चाहता हूँ, ऐसे-ऐसे अनेकविध प्रकार के रागादि भाव होते हैं उसमें जीव को रस है, ऐसा कहते हैं। तो वहाँ उसका विश्राम है।

अमुक प्रकार के संयोग मेरे बने रहे, इतने संयोग तो मेरे बने रहे, इतने लोग इतने-इतने प्रकार से अनुकूल ऐसा जो कुछ जीव को (लगता है) उसने संयोग में विश्राम लिया है कि यह ठीक है! बस! बात पूरी हो गई। उसने वहाँ काल गंवाया। यह क्षेत्र मेरे लिए अच्छा है, भावनगर जैसा कोई नहीं, दूसरी जगह हमें तो नहीं जमता। भावनगर में भी जिस गली व (मोहल्ला) में रहता हो उसमें ही अच्छा लगे, अन्य कहीं भी नहीं। ऐसी परिस्थिति हो जाती है। घर बदलना पड़े तो भी नहीं सुहाता। घर में बिस्तर बदलना पड़े या (कमरा) बदलना पड़े तो भी नहीं अच्छा लगता। अरे! नींद तक नहीं आती! ऐसी अनेक प्रकार की बुरी आदतें बन चुकी हैं जीव की! उसने जो जमाया है इसकी चुनाईमें से एक ईंट इधर-उधर हो जाये, या एक कील इधर-उधर हो जाये तो उसका आत्मा पूरा इधर से उधर हो जाता है!! (यहाँ) कहते हैं कि ये सारे रूकावट के स्थान नक्की कर रखे हैं।

मुमुक्षु :— फँस गया।

पूज्य भाईश्री :— फँस गया! पूरा-पूरा इसीमें फँस गया, ऐसा कहते हैं। उसमें ही वह फँस गया है! मुमुक्षुकी तो ऐसी तैयारी होनी चाहिए कि चाहे कैसे भी द्रव्य-

क्षेत्र-काल-भाव हो, मुझे नहीं चलेगा या नहीं जमेगा यह प्रश्न ही नहीं हो सकता। यह चाहिए ही और इसके बिना नहीं चलेगा, यह बात होनी ही नहीं चाहिए, वरना फँसना हो जाएगा। वह जो फँस गया है वहाँ से निकलना मुश्किल है, ऐसा है। उसमें उसे क्या हुआ?

इसमें जीव सोच कैसे लेता है (कि) इतना होना तो एकदम सामान्य (है), ऐसा तो होना संभव है ही! क्योंकि हम कहाँ वीतराग हो चुके हैं? अभी तो हम घर-गृहस्थीवाले संसारी हैं, फलाना है, इतना होगा ही, ऐसा मानकर दोष का बचाव करने जैसा नहीं है, ऐसा कहते हैं। क्योंकि इसमें तो तेरा पूरा आत्मा ही धोखा खा गया। तूने अपनेआप को धोखा दे दिया। कैसा धोखा दे दिया? कि तेरा सम्यग्दर्शन व केवलज्ञान उसमें चोरी हो गया! ठगाई होना मतलब चोरी हो जाना।

अगर सम्यग्दर्शन नहीं होगा तो केवलज्ञान नहीं होगा। नुकसान तो केवलज्ञान तक का है! ऐसा है वास्तव में तो। सामान्य नुकसान नहीं है। अतः मुझे ऐसा नहीं चलेगा और मुझे ऐसे संयोग चाहिए, ऐसे क्षेत्र चाहिए, मुझे तो ऐसा राग नहीं करना है परंतु वैसा राग करना है- यह सब बातें होनी ही नहीं चाहिए। ऐसा है। कब परिणाम हरजगह से समेटकर आत्मा में ला सकते हैं या आ सकते हैं? कि ऐसे-ऐसे प्रकार में कहीं रूक न जाये तो। परंतु अगर कहीं भी विश्राम कर लिया कि, जैसे यह घर, यह कुटुंब, यह राग और यह संयोग और क्षेत्र, यह गाँव और यह मोहल्ला, यह कमरा (मुझे अनुकूल है)। कहते हैं कि इसमें अगर तुझे विश्राम है तो तेरा पूरा आत्मा वहाँ धोखा खा गया है! तेरा आत्महित वहाँ चोरी हो गया व तूने उसे लूटा दिया जिसका तुझे खयाल तक नहीं रहता है!! यह तो गुरुदेव जैसे महापुरुष ने बहुत मंथनपूर्वक सब प्रसिद्ध किया है। कितना-कितना मंथन किया! जिसका यह दोहन है।

मुमुक्षु :- महान उपकार है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, जीव को एक-एक जगह से खींचकर निकाला है जैसे देख! यहाँ मत फँसना, तू यहाँ मत फँसना, यहाँ भी मत फँसना। कोई भी राग में ठीकपना मत मानना। आखिर में राग तो राग ही है, जिसकी कोई कीमत नहीं है। कहीं भी फँसने नहीं दिया जीव को! ऐसा ही कोई उपदेश है!! आत्महित का उपदेश चारों तरफ से आत्मा को अंतर में ले आये, ऐसा उपदेश है।

कहते हैं कि किसी भी राग में (विश्राम लेने जैसा नहीं है)। संयोग-वियोग तो राग का फल है। क्षेत्र का संयोग-वियोग यह भी रागादि भावों का फल है। किसी भी जीव में, किसी भी अजीव में यानि कि किसी भी द्रव्य में, किसी भी क्षेत्र में (विश्राम लेने जैसा नहीं है)। ये मुनि जो हैं वे एक क्षेत्र में नहीं रहते हैं न! कोई मुनि एक क्षेत्र में विहार दौरान स्थिर नहीं रहते। इसके पीछे क्या कारण है? क्योंकि मुनियों को किसी भी क्षेत्र का इतना राग नहीं होता कि अब यह क्षेत्र ठीक है। लेकिन क्या ऐसा नहीं होना चाहिए कि जहाँ धर्मी बसते हो वहाँ मुनि रहे तो अच्छा, क्योंकि धर्मप्रभावना बढ़ेगी, क्या मुनियों के अभिप्राय में - विचार में ऐसा नहीं होगा? जहाँ धर्मी जीव ज्यादा हो, धर्म की भावनावाले जीव ज्यादा हो, उन साधर्मियों को उपदेश देना, उन साधर्मियों का आत्महित हो व शासन के कार्यों को प्रोत्साहन मिले-वृद्धि हो, वहाँ मुनि को स्थिर होकर नहीं रहना चाहिए? (कहते हैं कि) नहीं। यह मुनियों की मर्यादा में नहीं है।

मुनि को किसी क्षेत्र का, किसी दूसरे जीवों को-द्रव्यों का (राग नहीं होता)। खुद को जब ज्ञान हुआ है तो मुनिपना बाद में ले ले! पहले कुटुंबवालों को, कुटुंबियों को तो ज्ञान देकर सबका उद्धार कर ले! उनको तिराने का काम तो पूरा कर ले, बाद में मुनिपना ले ले! (ऐसा) कुछ नहीं होता। किसी द्रव्य से राग नहीं, किसी भी राग का राग नहीं है। (जहाँ) राग का राग नहीं होता (वहाँ) फिर राग के फल में बाहर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव है, इनका जो संयोग-वियोग है, इनकी पकड़ तो

रहने का सवाल ही नहीं रहता।

ऐसा जिसको नहीं होता उसने विश्राम ले लिया, विश्राम में काल व्यतीत किया है। आयुष्य पूरा कर देता है। मृत्यु के समीप प्रतिक्षण जाता रहता है। दुनिया के नाप से यह नाप अलग है। गुरुदेवश्री दृष्टांत देते थे तब कहते थे कि, बच्चे के सामने माँ जब देखती है तब ऐसे देखती है कि, मेरा बेटा हररोज बड़ा होता जा रहा है। एक साल का हुआ, दो साल का हुआ, पाँच साल का हुआ, पच्चीस साल का युवान हुआ। तो (ज्ञानी) कहते हैं कि लेकिन भाई ! वह आयुष्य में छोटा होता जा रहा है। वैसे उम्र बढ़ती जा रही है लेकिन आयुष्य घटता जाता है। वह हररोज मृत्यु के समीप जा रहा है, इसका विकल्प नहीं आता! इसका विचार नहीं आता है! जबकि

आत्मार्थी जीव का एक लक्षण है, अनेक लक्षणोंमें से एक लक्षण यह भी है कि उसे समय की बहुत कीमत होती है, उसे लगता है कि मेरे पास बहुत कम समय है और काम बहुत करना बाकी है, अतः फालतू समय मेरे पास नहीं है-यह एक उसका लक्षण है।

१७ साल की उम्र में सम्यग्दर्शन नहीं हुआ था तो पूज्य बहिनश्री को लगता था कि अरे...! १७-१७ साल चले गये उम्रमें से! फिर भी अभी धर्म की प्राप्ति, आत्मा की प्राप्ति नहीं है, कल-परसों पच्चीस हो जायेंगे! अभी तो विचारधारा को शुरू हुए साल-दो साल हुए हैं, फिर भी देर हो रही है व तेजी से काम कर लेना चाहिए, ऐसा झुकाव, परिणमन में तथारूप झुकाव आये बिना रहता नहीं। यह परिस्थिति होती है।

पंद्रह साल की उम्र में जो सूझ आयी वह बचपन से क्यों नहीं आयी, ऐसा तब लगता था! ठीक! अभी तो कुमारावस्था है फिर भी देर हो गई ऐसा लगता है। यह तो जनमघूँटी में ही जैसे मिलना चाहिए था। आत्मा के संस्कार तो जैसे कोई जनमघूँटीमें से मिल जाते तो अच्छा था, यह तो बहुत देर हो गई! जीव का शीघ्रता से-त्वरा से काम करने का यह जो प्रकार आता है, वह उसको अपने ध्येय में निष्फल नहीं होने देता। यह इसका बहुत सुंदर लक्षण है। जो प्रमाद में काल गंवाता है (उसको तो ऐसा लगता है कि) ठीक है! कुछ तो हम करते हैं! एकदम कुछ भी नहीं करते ऐसा थोड़ी है? हररोज कुछ न कुछ तो करते ही हैं। इससे ज्यादा तो हम करे भी क्या? शक्ति है उतना करते हैं।

(यहाँ) कहते हैं कि मुझे देर हो रही है यह प्रकार अभी उसका नहीं हुआ। उसने वहाँ विश्राम कर लिया है। प्राप्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में रूककर समय गंवाया है। पूरे आत्मा को वह ठगता है! यह परमात्मपद को ठगने की बात है!! यह प्रकार, यह जिसको आत्म-प्राप्ति करनी है, उसके लिए उचित व अनुकूल नहीं है। इस पर यहाँ ध्यान दिलाया है। कहीं बोल ऐसे आते हैं जिसमें सावधान करते हैं कि देख! तुम धर्म के क्षेत्र में हो लेकिन लाईन ठीक कर लेना! वरना पूरा आत्मा धोखे में रह जाएगा!! ऐसी अनेक बातें इसमें हैं। (यह २१६ बोल पूरा हुआ)।

(पूज्य गुरुदेवश्री प्रवचन...)

फिर आएगा परन्तु इन्होंने यहाँ अर्थ किया है, वरना अकेला आएगा। ८६ (गाथा में)। ८६ में तो स्पष्ट 'अकेला' शब्द ही आएगा। ८६वीं गाथा में (कहेंगे) '**एक्कलउ इंदिय रहियउ**' इसलिए यहाँ से अकेला लेना है न! ८६ में पहला शब्द यह है। भगवान आत्मा को ऐसा देखना कि जिसमें आठ कर्मों का सम्बन्ध नहीं है। '**न इसमें रागादि विकारी भाव है, न कोई स्थूल औदारिक व वैक्रियक शरीर है। यह आत्मा शुद्ध स्फटिकमणि के समान परम निर्मल है। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणों का सागर है। यह आत्मा न किसी का उपादानकारण है, न किसी का निमित्तकारण है।** '

पूज्य बहिनश्री की वीडियो तत्त्वचर्चा मंगल वाणी-सी.डी. ९-B

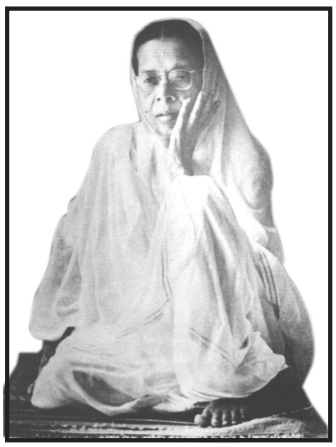

समाधान :- उसे खुद को अंतरसे इतना विश्वास आना चाहिये। तो कर सके कि भव नहीं है।

मुमुक्षु :- कोई आत्मार्थी को वास्तव में आत्मार्थ प्रगट हुआ हो तो वह स्वयं के लिये नक्की कर सके कि मुझे भव नहीं है, ऐसा निःशंकरूपसे खुद नक्की कर सकता है?

समाधान :- स्वयं कर सकता है। सम्यग्दर्शन होनेसे पहले स्वयं को ऐसी हूँफ खुद को आये तो हो सकता है।

मुमुक्षु :- नक्की हो ही ना सके ऐसा नहीं।

समाधान :- नहीं हो सके ऐसा नहीं है। सम्यग्दर्शन होने के बाद तो स्पष्ट ही है। लेकिन इसमें तो खुद की भावना, अपनी आत्मार्थीता परसे वैसा कोई पात्र जीव हो तो नक्की कर सकता है।

मुमुक्षु :- आत्मार्थीता पर ही उसका आधार है?

समाधान :- उसका आधार आत्मार्थीता पर है, उसकी पात्रता पर है।

मुमुक्षु :- माताजी! गुरुदेवश्री के वचनामृत में ९४ नंबर का वचनामृत है। उसमें इसप्रकार आता है : शुद्धात्माके अनुभवमें धर्मी जीव मुख्यरूपसे राग-द्वेषके कर्ता या भोक्ता नहीं है। मुख्यरूपसे क्यों लिया, यहाँ आशंका करके जानना था। मुख्यरूपसे राग-द्वेष के कर्ता-भोक्ता नहीं है। क्योंकि सामान्यरूपसे हम ऐसा कह सकते हैं कि राग-द्वेष के कर्ता और भोक्ता होते नहीं, उन्हें स्वामित्व नहीं होता। और दूसरा प्रश्न उसमें यह है कि - किन्तु स्वभावदृष्टिमें निर्मल पर्यायको करते हैं और उसके आनन्दको भोगते हैं। स्वभावदृष्टि का विषय तो ध्रुव ज्ञायक है, उसमें आनन्द को करते हैं और भोगते हैं, ऐसा क्यों लिया?

समाधान :- स्वाभावदृष्टिसे, ऐसा लिया है?

मुमुक्षु :- जी हाँ, स्वभावदृष्टिमें निर्मल पर्यायको करते हैं और उसके आनन्दको भोगते हैं।

समाधान :- मुख्यरूपसे कर्ता-भोक्ता नहीं है अर्थात् उसे अभी अस्थिरता है। दृष्टि की अपेक्षासे कर्ता-भोक्ता नहीं है, स्वामित्वबुद्धि नहीं है। मैं ज्ञायक हूँ, यह विभावभाव मेरा स्वभाव नहीं है, मेरे स्वभावसे विरूद्ध नहीं है, मुझमें-से उत्पन्न होते हैं ऐसा नहीं है, मेरे पुरुषार्थ की मन्दतासे होते हैं। मैं उसका कर्ता नहीं। उस भावों को उत्पन्न करनेवाला मैं नहीं हूँ, मैं ज्ञायक हूँ। मुख्यरूपसे नहीं है अर्थात् दृष्टि की अपेक्षासे नहीं है। अस्थिरता में अभी होते हैं। राग-द्वेष हो ही नहीं तो वीतराग हो जाये। अस्थिरता की अपेक्षासे है इसलिये मुख्यरूपसे नहीं है, ऐसा कहा है।

मुमुक्षु :- परिणमन की अपेक्षासे तो वे कर्ता एवं भोक्ता है ही।

समाधान :- परिणमन अपेक्षासे है, लेकिन उन्हें स्वामित्व बुद्धि नहीं है इसलिये वे कर्ता-भोक्ता नहीं है।

मुमुक्षु :- इसलिये मुख्यरूपसे कहकर परिणमन की अपेक्षासे वहाँ कर्तृत्व-भोक्तृत्व वहाँ बताना है?

समाधान :- हाँ, उस अपेक्षासे है, अस्थिरता से है।

मुमुक्षु :- स्वभावदृष्टि में निर्मल पर्याय के कर्ता एवं भोक्ता हैं।

समाधान :- स्वभावदृष्टि की अपेक्षासे यानि कि जो स्वयं द्रव्य पर दृष्टि रखे उस अपेक्षासे, ऐसा नहीं कहना है। स्वभावदृष्टिसे अर्थात् विभाव का कर्ता-भोक्ता नहीं है, लेकिन स्वभाव का कर्ता-भोक्ता है। निर्मल पर्याय को स्वयं करता है और निर्मल पर्याय को स्वयं भोगता है। स्वभावदृष्टिसे यानि द्रव्य पर दृष्टि है उस अपेक्षासे ऐसा नहीं कहना है। स्वभाव की अपेक्षासे। विभाव की अपेक्षासे विभाव के कर्ता-भोक्ता नहीं है, लेकिन स्वभाव के कर्ता-भोक्ता है। ऐसा कहना है।

मुमुक्षु :- स्वभावदृष्टि में उसका अर्थ यह कि स्वभावदृष्टि जिसे प्रगट हुई है वह स्वभाव का कर्ता एवं भोक्ता है?

समाधान :- वह स्वभाव की निर्मल पर्याय को प्रगट करता है। निर्मल पर्याय की साधना में निर्मल पर्याय प्रगट करता है। उसे स्वयं भोगता है, स्वयं उसका कर्ता है, अर्थात् जिस द्रव्य पर दृष्टि है, उसकी अपेक्षासे, द्रव्यदृष्टि के विषय में तो वह कुछ नहीं है, यानि विभाव और स्वभाव ऐसा भेद किया है। अर्थात् स्वभावदृष्टिसे कर्ता-भोक्ता, अपने स्वभाव का कर्ता-भोक्ता है। लेकिन विभाव का कर्ता-भोक्ता नहीं है, ऐसा कहना है।

मुमुक्षु :- स्वभावदृष्टि की अपेक्षासे नहीं।

समाधान :- जो द्रव्य पर दृष्टि है उसकी अपेक्षासे, ऐसा नहीं कहना है। लेकिन स्वभावदृष्टिसे अर्थात् स्वभाव की अपेक्षासे। ऐसे। विभाव की अपेक्षासे कर्ता-भोक्ता नहीं है, लेकिन स्वभाव की अपेक्षासे स्वभाव का कर्ता-भोक्ता है, ऐसा कहना है।

मुमुक्षु :- स्वभाव की अपेक्षासे, उसके स्वभाव को देखें तो वह स्वभाव का कर्ता एवं भोक्ता है।

समाधान :- स्वभाव की ओर देखो, स्वभाव की अपेक्षा लो तो उसकी अपेक्षासे वह कर्ता-भोक्ता है। स्वभाव की ओर देखो तो। स्वभाव की ओर देखो तो कर्ता-भोक्ता है। विभाव की अपेक्षासे नहीं है। लेकिन द्रव्यदृष्टि के विषय की अपेक्षासे है, ऐसा नहीं कहना है।

मुमुक्षु :- आत्मा के स्वभावसे देखें तो निर्मल पर्याय का कर्ता और भोक्ता है।

समाधान :- हाँ, कर्ता-भोक्ता है, ऐसा कहना है। कर्ता-भोक्ता है ही नहीं, ऐसे नहीं। स्वभाव का कर्ता-भोक्ता है। और निर्मल पर्याय प्रगट होती है, वह अपने पुरुषार्थसे प्रगट होती है उसे वह करता है, उसे वह भोगता है।

मुमुक्षु :- स्वभाव की अपेक्षासे स्वभाव का कर्ता एवं भोक्ता है, लेकिन विभाव का कर्ता एवं भोक्ता स्वभाव अपेक्षासे नहीं है।

समाधान :- विभाव का कर्ता-भोक्ता स्वभाव की अपेक्षासे नहीं है।

मुमुक्षु :- माताजी! श्रीमद्जी में एक वचन आता है कि जबतक अस्तित्व भासित नहीं हुआ है, अस्तित्व भासनेसे समकित होता है।

समाधान :- श्रीमद्जी में आता है?

मुमुक्षु :- हाँ जी। आज तक अस्तित्व भासित नहीं हुआ है। अस्तित्व भासित होनेसे समकित होता है। अस्तित्व एकबार भासित हो तो वह दृष्टि की भाँति नझराता है और नझरानेसे आत्मा वहाँ-से खिसकता नहीं है। वैसे, कोई अपेक्षासे सम्यक् सन्मुख मिथ्यादृष्टि जीव को भी अनुभव के पहले ऐसा कोई प्रकार बनता है? अनुमान ज्ञान में अपना अस्तित्व नझराता है?

समाधान :- ऐसा सब उसमें ही लिखा है?

मुमुक्षु :- नहीं, बाद वाला हिस्सा प्रश्न है। यहाँ तक पुस्तक में है, और नझरानसे आत्मा वहाँ-से खिसकता नहीं। इतना श्रीमद्जी के बोल में है। और फिर उसमेंसे यह प्रश्न किया है कि, इसप्रकार सम्यक् सन्मुख मिथ्यादृष्टि जीव को भी अनुभव होनेसे पहले ऐसा कोई प्रकार बनता है? अर्थात् अनुमान ज्ञान में अपना अस्तित्व नझराता है क्या?

समाधान :- अनुमान ज्ञान में भी अस्तित्व नझर में आता तो है। लेकिन वह उसे सहजरूपसे नहीं है। स्वभाव की अपेक्षासे परिणतिरूप है ऐसा तो नहीं कह सकते, लेकिन नझर में लेने को प्रयत्न करे तो उसे दृष्टि में अस्तित्व नझरा सकता है। लेकिन बराबर यथार्थपने तो सम्यग्दृष्टि को आता है। अस्तित्व जो ग्रहण होता है, नझर में आ जाता है, अस्तित्व ही अनन्त काल में ग्रहण नहीं हुआ है। उसके पहले सम्यक्त्व सन्मुख हो उसे ज्ञानसे-बुद्धिसे उसकी नझर में अस्तित्व आ सकता है। ज्ञान उसका साधन बनता है, आ सकता है, लेकिन उसको यथार्थ कब कहें? कि उसकी परिणति पलटे तब। पहले आ सकता है।

मुमुक्षु :- सम्यग्दृष्टि की भाँति उसे भी अनुमान ज्ञान में अस्तित्व नझर में आ सकता है?

समाधान :- आता है। नझर में आ सकता है, नझर में आता है लेकिन वह सहजरूप होता नहीं।

मुमुक्षु :- सहजरूप नहीं होने के बावजूद जितनी रुचि इस ओर की हो उतने प्रमाण में अस्तित्व नझराया करे ऐसा बन सकता है?

समाधान :- रुचि का झुकाव इस ओर हो तो वह बार-बार नझर में आता है, लेकिन वहाँ वह उतना टिक नहीं पाता। बार-बार प्रयत्न करके उस ओर जाता है। सहज नहीं है, इसलिये सम्यग्दृष्टि की भाँति वह टिक नहीं सकता। बार-बार उसे ख्याल में, अनुमान ज्ञान में लेता रहता है। टिक नहीं सकता। बार-बार विचार कर-करके वहाँ स्थिर रहने का प्रयत्न करता है।

मुमुक्षु :- उपयोग तो पर की ओर जाता है इसलिये बार-बार नहीं ले सकता, लेकिन जितनी रुचि हुई है उतने प्रमाण में उसे वह आता रहे, ऐसा बनता है?

समधान :- रुचि में आता है, लेकिन सम्यग्दृष्टि को है उसप्रकारसे वह नहीं आ सकता। उसके अनुमान ज्ञान में आ सकता है, लेकिन उपयोग तो पलटता है, लेकिन रुचि उतनी नहीं रख सकती। रुचि उस ओर होती है, लेकिन उतनी उसे दृढ़पने रख नहीं सकती। अमुक प्रकारसे रहती है। सम्यग्दृष्टि को रहती है वैसे उसे रहती नहीं।

मुमुक्षु :- मतलब रुचि में उतार-चढाव अथवा कम-बेसी ऐसा बनता होगा?

समाधान :- जबतक रुचि सहजरूप नहीं है तबतक वहाँ भी तीव्रता-मन्दता हुआ करती है।

मुमुक्षु :- उसमें कारण स्वयं के पुरुषार्थ की कमज़ोरी या कर्म का उदय निमित्तरूपसे साथ में ले सकते हैं?

समाधान :- खुद की कमज़ोरी है। कर्म तो साथ में होते ही हैं, लेकिन खुद के पुरुषार्थ की कमज़ोरी है। पुरुषार्थ करे तो कर्म तो चले जाते हैं। कर्म का निमित्त तो साथ में होता ही है, लेकिन खुद की क्षति होती है।

मुमुक्षु :- ज़ोर पुरुषार्थ की कमज़ोरी का ही लेना।

समाधान :- पुरुषार्थ की कमज़ोरी पर ही ज़ोर जाना चाहिये, तो ही वह आगे बढ़ सकता है। कर्म कोई पराधीन नहीं बना देता कि स्वयं पुरुषार्थ नहीं कर सके। अपनी क्षतिसे रुकता है, खुद पुरुषार्थ करे तो आगे जाता है। सब साधन मिले, गुरुदेव मिले, इतना स्पष्ट किया फिर विचारकरके खुद आगे बढ़े, लेकिन नहीं हो तो खुद की क्षति है।

मुमुक्षु :- आत्मा में शक्ति तो एक समय में केवलज्ञान प्रगट करने की है, लेकिन फिर भी वर्तमान पर्याय की योग्यता इसप्रकार की है कि जिसमें इतना पुरुषार्थ भी प्रगट नहीं कर सकता।

समाधान :- वैसी सहज ही इसप्रकार की पुरुषार्थ की क्षति है। गुरुदेव कहते हैं कि उसमें कोई कारण नहीं है, अकारण पारिणामिक द्रव्य। स्वयं की क्षतिसे खुद की परिणति को स्वयं पलटता नहीं।

मुमुक्षु :- वहाँ योग्यता ले और पुरुषार्थ की कमज़ोरी ले, उसमें पुरुषार्थ की कमज़ोरी लेना वह आत्मार्थी को ज्यादा अच्छा है।

समाधान :- आत्मार्थी के लिये वह हितरूप है, पुरुषार्थ की क्षति है वह। तो उसे खटक लगकर आगे जाने का कारण बनता है।

मुमुक्षु :- योग्यता में तो प्रमाद आने का (अवकाश है)।

समाधान :- प्रमाद आ जाये, या जो होनेवाला होगा वह होगा, ऐसी ही योग्यता है। जीव को खुद के बचाव की ओर के पहलू पकड़ने में तो थोड़ी-सी भी देर नहीं लगती। नहीं हो तो बचाव के पहलू एकदम आ जाते हैं। पुरुषार्थ की ओर जाये तो उसे खटक रहे कि मुझे ही करना है, मैं मेरे प्रमाद के कारण ही रुका हूँ, प्रमाद है इसीलिये आगे नहीं बढ़ पाता हूँ। इतनी लगी नहीं है इसलिये नहीं बढ़ पाता। श्रीमद्जी में भी आता है न कि अटकने के अनेक साधन होते हैं। जीव कहीं भी अटक जाता है।

मुमुक्षु :- माताजी! इसमें एक पहलू (ऐसा ले कि) आकुलता ज्यादा हो जाये, मेरे प्रमादसे ही ऐसा हुआ है, मैं पुरुषार्थ नहीं करता हूँ इसलिये नहीं होता है, इसमें आकुलता बढ़ नहीं जायेगी?

समाधान :- वह सब आत्मार्थी को देखना है। आकुलता बढ़ जाय तो वैसे भी मार्ग प्राप्त नहीं होता। बहुत ज्यादा उलझन हो जाये, वैसा हो जाये तो भी मार्ग मिलता नहीं। मार्ग शान्तिसे, धैर्यसे आगे बढ़े तो प्राप्त होता है। पुरुषार्थ पर ध्यान दे, मेरा प्रमाद है। अधिक आकुलता करनेसे उलझन बढ़ती हो तो शान्ति और धैर्य रखना। प्रमाद है या शान्ति है या धैर्य है या क्या है वह सब खुद को विचार करना है। मिट्टी के दिये में एक-एक बूँद डालते-डालते वह भीगता है, उसमें कितना धैर्य रखना पड़ता है। ऐसे धैर्य रखे तो, धैर्य एवं शान्ति (रखनी चाहिये)। उलझन करनेसे कुछ होता नहीं। उलझनसे मार्ग नहीं मिलता है। शान्तिसे, धैर्यसे उसका मार्ग स्वयं निकाले, कुशलतासे मार्ग निकाले, पुरुषार्थ करे, शान्ति और धैर्य रखे तो ही आगे जा सकता है।

अन्दर खुद की योग्यता स्वयं समझकर आगे बढ़े। मार्ग मिले लेकिन पुरुषार्थ नहीं चलता हो, कहीं न कहीं रुकता हो तो पुरुषार्थ करे और उलझन हो जाती हो तो शान्ति रखे, धैर्य रखे। अभी नहीं हो सकता है, लेकिन मुझे करना ही है, मैं करुँगा ही, ऐसी भावना रखे।

मुमुक्षु :- उलझन होती हो तब ऐसा विचार करे।

समाधान :- होता नहीं है लेकिन मुझे करना है, लेकिन शान्ति रखे। होता नहीं हो, अधिक आगे नहीं बढ़ पाता हो, गुरुदेव कहते हैं, ज्ञायक के द्वार पर टहेल मारते रहना, आगे नहीं बढ़ पाता हो तो, लेकिन छोड़ना मत। बहुत उलझन में आ जाये तो छोड़ दे। ऐसी उलझन में नहीं आना। वहीं अटकता, वहीं का वहीं रहता हो लेकिन वहीं बारंबार ज्ञायक के द्वार पर टहेल मारते रहना। तो कुछ आगे बढ़ने का अवकाश रहेगा।

मुमुक्षु :- ज्ञायक भीक्षा नहीं दे तबतक टहेल मारते रहना।

समाधान :- टहेल मारते ही रहना। तो ज्ञायकदेव किसी दिन प्रसन्न हो जायेगा। भगवान के द्वार पर टहेल मारता रहे तो भगवान प्रसन्न हो जाये। ज्ञायक के द्वार पर टहेल मारे तो ज्ञायकदेव प्रसन्न हो जाये। गुरुदेव के द्वार पर टहेल मारने-से गुरुदेव प्रसन्न हो जाये। ऐसी खुद की भावना.. ज्ञायक को मत छोड़ना। शान्तिसे (करना)। इतना काल निकल गया, क्यों होता नहीं? उसे कोई काल की मर्यादा नहीं होती। ज्ञायक की परिणति के लिये काल की मर्यादा का विचार नहीं करते हुए, मैं भावना भाता हूँ, पुरुषार्थ करता हूँ तो भी होता नहीं है तो शान्ति एवं धैर्यसे मुझे करना ही है। तो ज्ञायक के द्वार पर ऐसे ही टहेल मारते रहना, नहीं होता हो तो। वही विचार, उसकी भावना, वही का वही करता रहे। जिसकी महिमा लगनी चाहिये, जिसे ग्रहण करना है, उसके (द्वार पर) टहेल मारनेसे प्रसन्न हुए बिना रहेंगे ही नहीं। यदि तुझे वह ग्रहण करना ही है तो।

मुमुक्षु :- माताजी! विश्वास टिकता नहीं। कुछ काल जाता है, फिर भी प्रयत्न करते हैं तो भी कुछ नहीं होता है तो विश्वास थोड़ा डिग जाता है। फिर आपके थोड़े वचन ऐसे सुने तो पुनः धैर्यता (आती है)। इसीप्रकारसे आगे बढ़ा जायेगा।

समाधान :- विश्वास रखना चाहिये। मार्ग तो गुरुदेवने बताया है, मार्ग तो यही है। मार्ग तो स्पष्ट हो गया है। अंतर में करना तो खुद को ही है। लोगों को तो मार्ग मिलता नहीं, कहाँ-कहाँ भटक जाते हैं। यहाँ तो एक मार्ग बराबर हाथ लग गया है कि किस मार्ग पर जाना है। फिर स्वयं को पुरुषार्थ करना बाकी रहता है। बारंबार पुरुषार्थ करके विश्वाससे, दृढ़तासे आगे बढ़े तो जा सकता है।

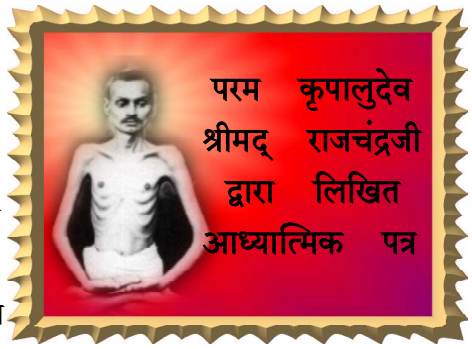

२५५

बंबई, आषाढ़, सुदी १३,१९४७

सुखना सिंधु श्री सहजानंदजी, जगजीवन के जगवंदजी।

शरणागतना सदा सुखकंदजी, परमस्नेही छो(!)परमानंदजी।।

अपूर्व स्नेहमूर्ति आपको हमारा प्रणाम पहुँचे। हरिकृपासे हम परम प्रसन्न पदमें हैं। आपका सत्संग निरंतर चाहते हैं।

हमारी दशा आजकल कैसी रहती है, यह जाननेकी आपकी इच्छा रहती है; परंतु यथेष्ट विवरणपूर्वक वह लिखी नहीं जा सकती, इसलिये वारंवार नहीं लिखी है। यहाँ संक्षेपमें लिखते हैं।

एक पुराणपुरुष और पुराणपुरुषकी प्रेमसंपत्तिके बिना हमें कुछ भी अच्छा नहीं लगता; हमें किसी पदार्थमें रुचि मात्र नहीं रही है; कुछ प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं होती; व्यवहार कैसे चलता है इसका भान नहीं है; जगत किस स्थितिमें हैं इसकी स्मृति नहीं रहती; शत्रु-मित्रमें कोई भेदभाव नहीं रहा; कौन शत्रु है और कौन मित्र है, इसका खयाल रखा नहीं जाता; हम देहधारी हैं या नहीं इसे जब याद करते हैं तब मुश्किलसे जान पाते हैं; हमें क्या करना है, यह किसीसे जाना नहीं जा सकता; हम सभी पदार्थोंसे उदास हो जानेसे चाहे जैसे वर्तन करते हैं; व्रत नियमोंका कोई नियम नहीं रखा; जात-पाँतका कोई प्रसंग नहीं है; हमसे विमुख जगतमें किसीको नहीं माना; हमारे सन्मुख ऐसे सत्संगी नहीं मिलनेसे खेद रहा करता है, संपत्ति पूर्ण है इसलिये संपत्तिकी इच्छा नहीं है; अनुभूत शब्दादि विषय स्मृतिमें आनेसे,-अथवा ईश्वरेच्छासे उनकी इच्छा नहीं रहीं है; अपनी इच्छासे थोड़ी ही प्रवृत्ति की जाती है; हरि इच्छित क्रम जैसे चलता है वैसे चलते हैं; हृदय प्रायः शून्य जैसा हो गया है; पाँचो इंद्रियाँ शून्यरूपसे प्रवृत्त होती रहती हैं। नय, प्रमाण इत्यादि शास्त्रभेद याद नहीं आते; कुछ पढ़ते हुए चित्त स्थिर नहीं रहता; खानेकी, पीनेकी, बैठनेकी, सोनेकी, चलनेकी और बोलनेकी वृत्तियाँ अपनी इच्छानुसार प्रवृत्ति करती रहती हैं; मन अपने अधीन हैं या नहीं, इसका यथायोग्य भान नहीं रहा। इस प्रकार सर्वथा विचित्र उदासीनता आनेसे चाहे जैसी प्रवृत्ति की जाती है। एक प्रकारसे पूरा पागलपन है। एक प्रकारसे उस पागलपनको कुछ छिपाकर रखते हैं, और जितना छिपाकर रखा जाता है उतनी हानि है। योग्य प्रवृत्ति करते हैं या अयोग्य इसका कुछ हिसाब नहीं रखा। आदिपुरुषमें अखंड प्रेमके सिवाय दूसरे मोक्षादि पदार्थोंकी आकांक्षाका भंग हो गया है। इतना सब होते हुए भी मनमानी उदासीनता नहीं है, ऐसा मानते हैं। अखंड प्रेमखुमारी जैसी प्रवाहित होनी चाहिये वैसी प्रवाहित नहीं होती, ऐसा समझते हैं। ऐसा करनेसे वह अखंड प्रेमखुमारी प्रवाहित होगी ऐसा निश्चलतासे जानते हैं; परन्तु उसे करनेमें काल कारणभूत हो गया है; और इस सबका दोष हमें है या हरिको है, ऐसा दृढ़ निश्चय नहीं किया जा सकता। इतनी अधिक उदासीनता होनेपर भी व्यापार करते हैं; लेते हैं, देते हैं, लिखते हैं, पढ़ते हैं, सँभालते हैं और खिन्न होते हैं; और फिर हँसते हैं-जिसका ठिकाना नहीं ऐसी हमारी दशा है। और इसका कारण मात्र यही है कि जब तक हरिकी सुखद इच्छा नहीं मानी तब तक खेद मिटनेवाला नहीं है।

(अ) समझमें आता है, समझते हैं, समझेंगे; परंतु हरि ही सर्वत्र कारणरुप है।

जिस मुनिको आप समझाना चाहते हैं; वह अभी योग्य है, ऐसा हम नहीं जानते।

हमारी दशा अभी ऐसी नहीं है कि मंद योग्यको लाभ करे, हम अभी ऐसा जंजाल नहीं चाहते, उसे नहीं रखा; और उन सबका कारोबार कैसे चलता है, इसका स्मरण भी नहीं है। ऐसा होनेपर भी हमें उन सबकी अनुकंपा आया करती है; उनसे अथवा प्राणीमात्रसे मनसे भेदभाव नहीं रखा, और रखा भी नहीं जा सकता। भक्तिवाली पुस्तकें कभी पढ़ते है; परंतु जो कुछ करते हैं वह सब बिना ठिकानेकी दशासे करते हैं।

हम अभी प्रायः आपके पत्रोंका समयसे उत्तर नहीं लिख सकते; तथा पूरी स्पष्टताके साथ भी नहीं लिखते। यह यद्यपि योग्य तो नहीं है; परंतु हरिकी ऐसी इच्छा है, जिससे ऐसा करते हैं। अब जब समागम होगा, तब आपको हमारा यह दोष क्षमा करना पडेगा, ऐसा हमें भरोसा है।

और यह तब माना जायेगा कि जब आपका संग फिर होगा। उस संगकी इच्छा करते हैं, परन्तु जैसे योगसे होना चाहिये वैसे योगसे होना दुर्लभ है। आप जो भादोमें इच्छा रखते हैं, उससे हमारी कुछ प्रतिकूलता नहीं है, अनुकूलता है। परंतु उस समागममें जो योग चाहते हैं, उसे होने देनेकी यदि हरिकी इच्छा होगी और समागम होगा तभी हमारा खेद दूर होगा ऐसा मानते हैं।

दशाका संक्षिप्त वर्णन पढ़कर आपको उत्तर न लिखा गया हो उसके लिये क्षमा देनेकी विज्ञापना करता हूँ।

प्रभुकी परम कृपा है। हमें किसीसे भेदभाव नहीं रहा; किसीके सम्बन्धमें दोषबुद्धि नहीं आती; मुनिके विषयमें हमें कोई हलका विचार नहीं है; परंतु हरिकी प्राप्ति न हो ऐसी प्रवृत्तिमें वे पड़े हैं।

अकेला बीजज्ञान ही उनका कल्याण करे ऐसी उनकी और दूसरे बहुतसे मुमुक्षुओंकी दशा नहीं है। साथमें 'सिद्धांतज्ञान' होना चाहिये। यह 'सिद्धांतज्ञान' हमारे हृदयमें आवरितरुपसे पड़ा है। हरिच्छा यदि प्रगट होने देनेकी होगी तो होगा। हमारा देश हरि है, जाति हरि है, काल हरि है, देह हरि है, रुप हरि है, नाम हरि है, दिशा हरि है, सर्व हरि है; और फिर भी इस प्रकार कारोबारमें हैं, यह इसकी इच्छाका कारण है।

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः

(पूज्य निहालचंद्रजी सोगानीजीके वचनामृत...)

(चर्चा सुननेवालों को लक्ष्य में लेकर :) सुनने की रुचि तो सभी की ठीक है; परंतु उससे अनंतगुनी रुचि अंदर की होनी चाहिए। (वास्तव में स्वरूप की रुचि का ऐसा स्वरूप है कि इसके आगे तत्त्व सुनने की रुचि कुछ नहीं है। अतः तत्त्व सुनने-पढ़ने आदि की रुचि में मुमुक्षु जीव को ठीकपना नहीं लगना चाहिए। 'अंतर्मुख होने में बहुत बाकी है' - ऐसा खयाल रहना चाहिए।) ४१३.

***

असल में बलवान वस्तु का बल आना चाहिए। ४१६.

***

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (मई-२०२१) का शुल्क श्री धर्मेन्द्रभाई न्यालचंदभाई वोरा, भावनगर के नाम से साभार प्राप्त हुआ है। जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।

द्रव्यदृष्टि प्रकाशमें से, मार्गदर्शन विषय सम्बन्धित पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीजी के चयन किये गये वचनामृत

अपने तो अपना समझना। दूसरा कैसा समझता है, कैसा नहीं, इसका क्या प्रयोजन? दूसरे में रुकेगा तो अपना काल व्यर्थ चला जाएगा। ३०२.

***

प्रश्न :- स्व-पर की प्रतीति करने का तो शास्त्र में आता है न?

उत्तर :- अरे! स्व की प्रतीति करो। पर की प्रतीति (पर में नहीं, किन्तु) उसमें आ जाएगी। अपनी खुद की प्रतीति करो। ३२७.

***

प्रश्न :- पक्ष इधर (स्वरूप में) आये बिना कैसे करें?

उत्तर :- अरे भाई! विकल्पात्मकभाव में (निर्णय में) तो यह पक्ष करो; पीछे इधर (स्वरूप में) जम जाओ। ३३०.

***

परिणामका विवेक तो, जो अनंत सुखी होना चाहते हैं उनको सहज होना चाहिए। ३५७.

***

'पुरुषार्थ करुँ' 'ज्ञान करुँ'- यह अभिप्राय भी हटा दे। 'तू वर्तमानमें ही पुरुषार्थकी खान है' वर्तमान परिणाम ऊपरकी दृष्टि झूठी है। ३५८.

***

इतनी-सी बात है-जो उपयोग पर में झुकता है, उसको स्व में झुकाने का है। ३७७.

***

प्रश्न :- घरवालों की हरएक प्रकार की प्रतिकूलता होनेसे अपना कार्य कैसे करुँ?

उत्तर :- अपने अंदर में बैठकर अपना काम करो! अपना यह कार्य अंदर में बैठकर करने में न घरवाले जानेंगे और न बाहरवाले जानेंगे। अपन क्या करते हैं और कहाँ है, यह भी कोई नहीं जानेगा। - ऐसे अंदर में अपना काम हो सकता है। ३८६.

***

बंधन रहित स्वभाव के लिए वांचन-मनन घूँटण करुँ तो पकड़ में आवे, ऐसी बात ही नहीं है। 'वह तो मैं त्रिकाली ही हूँ' - ऐसे वर्तमान में ही उसमें थँम जावो। (विकल्पातीत स्वभाव के विकल्प से कभी अनुभव नहीं होता है; परंतु निर्विकल्प स्वभाव की प्रत्यक्षता को प्रत्यक्ष तौरसे आविर्भूत करने से, परोक्षता विलीन होकर अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष अनुभव होता है।) ३९४.

***